उपभोक्तावादी संस्कृति :गुलाम मानसिकता की अफ़ीम : सच्चिदानन्द सिन्हा

भूमिका

हमारा निजी रहन - सहन कैसा होता है , इसके सामाजिक प्रभाव के सम्बन्ध में बहुत विचार नहीं किया जाता । ऐसे लोग भी जो समाज-परिवर्तन करना चाहते हैं , समाज से गरीबी हटाना चाहते हैं और समता लाना चाहते हैं , खुद कैसे रहते हैं इस बारे में नहीं सोचते। लेकिन हमारा रहन-सहन और उपभोग का स्तर वास्तव में एक नितान्त निजी मामला नहीं है । यह एक विशेष वातावरण की उपज है और स्वयं एक वातावरण बनाता है। यह वातावरण बहुत हद तक समाज की दिशा को प्रभावित करता है और इस बात का भी निर्धारण करता है कि उपलब्ध साधनों का कैसे उपयोग होगा । अत: यह एक ऐसा विषय है जिस पर कुछ गहराई से विचार करने की जरूरत है ।

निजी रहन-सहन के सम्बन्ध में इस लापरवाही को वामपंथी और मार्क्सवादी पार्टियों में एक तरह की सैद्धान्तिक मान्यता प्राप्त हो गयी थी । एक यूरोपीय वामपंथी ने इस सम्बन्ध में एक दिलचस्प बात बतायी । उसने बताया कि मार्क्स की स्वयं की आदतें फिजूलखरची की थीं हालांकि उनकी जिन्दगी प्राय: अभाव में ही बीती ।इस व्यक्ति ने यह भी बताया कि पश्चिम के मार्क्सवादी मार्क्स की इस कमजोरी को अपनी फिजूलखरची के समर्थन में उदाहरण की तरह पेश करते हैं । भारत में भी जब किसी वामपंथी नेता के खरचीले रहन-सहन की आलोचना की जाती है तो झट से यह जवाब मिलता है कि ' हमारा काम श्रमिकों का जीवन-स्तर ऊपर उठाना है , खुद अपने जीवन-स्तर को नीचे गिराना नहीं' । शुरु के दिनों मे समाजवादियों और गाँधीवादियों के बीच अक्सर यह एक विवाद का मुद्दा रहता था । यह बात अलग है कि आमतौर से समाजवादी कार्यकर्ताओं का जीवन बहुत ही सादगी और कभी-कभी तो अत्यन्त गरीबी का होता था , क्योंकि ईमानदार कार्यकर्ताओं के लिए दूसरे तरह की जिन्दगी सम्भव नहीं थी । जब सामाजिक कार्यकर्ताओं का यह हाल था तो आम आदमी में इस विषय पर सोचने की जरूरत कैसे पैदा होती ?

इस समस्या को इस तरह नजरअंदाज करने के पीछे एक कारण यह भी था कि आजादी के पहले तक शहरी संस्कृति अपने आप में विचार का विषय नहीं थी । लेकिन पिछले कुछ वर्षों में यह संस्कृति जलकुम्भी की तरह समाज पर छाती गयी है । जो गरीब हैं वे तो गरीबी के कारण इससे अछूते रह जाते हैं या इसके प्रभाव से और गरीब होते चले जाते हैं , लेकिन मध्यमवर्ग में तो यह महामारी की तरह फैल गयी है । सामाजिक कार्यकर्ताओं के रहन - सहन और इसके प्रति उनकी दृष्टि का भी इस संस्कृति से गहरा सम्बन्ध है । अत: इस प्रश्न पर पूरी स्पष्टता की जरूरत है ।

एक कारण और था जिससे वामपंथी लोगों में उपभोग की सीमा के सवाल पर कोई विचार नहीं होता था । यह मान लिया जाता था कि औद्योगिक उत्पादन की क्षमता सीमाहीन है और इसके अंधाधुंध प्रसार से कोई सामाजिक समस्या पैदा नहीं होगी । यह विचार भी पश्चिमी देशों से ही हमें मिला था । लेकिन अब पश्चिम के अधिकांश वैज्ञानिक और चिन्तक भी यह मानने लगे हैं कि इस उत्पादन की एक सीमा है और हम उस सीमा के काफी करीब आ चुके हैं । इस कारण वहाँ छात्रों तथा बुद्धिजीवियों के बीच एक नया वामपंथ पैदा हो रहा है जो प्राकृतिक साधनों की सीमाओं , प्रदूषण आदि की समस्याओं के साथ वामपंथ को जोड़ने का प्रयास कर रहा है । इन लोगों ने भी यह अनुभव किया है कि मानव विकास की कल्पना प्रकृति द्वारा बांधी गयी सीमाओं के भीतर ही की जा सकती है । स्पष्ट है कि कोई भी दीर्घकालीन विकास प्राकृतिक साधनों के अपव्यय को रोक कर ही सम्भव है ।हमारा उपभोग कितना और किन वस्तुओं का हो वह इससे सीधा जुड़ा हुआ है । इस तरह उपभोक्तावादी संस्कृति एक तरह से समाज के विकास के लिए सबसे प्रमुख अवरोध बन गयी है ।

इस सवाल पर साफ दृष्टि की इसलिए भी जरूरत है क्योंकि उपभोक्तावाद का दबाव बहुत जबरदस्त होता है । किसी व्यक्ति के इर्दगिर्द लोग कैसे रहते हैं , क्या पहनते हैं आदि की देखा-देखी ही वह अपना रहन-सहन बनाने की कोशिश करता है । अगर सामाजिक कार्यकर्ता किसी भी स्तर के उपभोग को सामान्य मान लें तो वह इस दबाव से नहीं बच सकता । इससे वह तभी बचेगा जब उसे यह पता हो कि कौन सी सामाजिक शक्तियाँ इस दबाव के पीछे काम करती हैं और कैसे वे उसके बुनियादी मूल्यों के विपरीत प्रभाव डालती हैं या उन उद्देश्यों को नष्ट करने वाली हैं जिनको लेकर वह चलता है । आज उपभोक्तावाद पूँजीवादी शोषण व्यवस्था का परिणाम भर नहीं है बल्कि उसे जिन्दा रखने का सबसे कारगर हथियार भी है। इसलिए भी संघर्ष को उपभोक्तावाद के खिलाफ केन्द्रित करना जरूरी हो जाता है । यह पुस्तिका उपभोक्तावाद के विभिन्न पहलुओं पर इसी दृष्टि से विचार करती है ।

सच्चिदानन्द सिन्हा.

उपभोक्तावादी संस्कृति

जब हम उपभोक्तावादी संस्कृति की बात करते हैं तो उपभोग तथा उपभोक्तावाद में फरक करते हैं । उपभोग जीवन की बुनियादी जरूरत है । इसके बगैर न जीवन सम्भव है और न वह सब जिससे हम जीवन में आनन्द का अनुभव करते हैं । इस तरह के उपभोग में हमारा भोजन शामिल है

जिसके बिना हम जी नहीं सकते या कपड़े शामिल हैं जो शरीर ढकने के लिए और हमें गरमी , सरदी और बरसात आदि से बचाने के लिए जरूरी हैं । इस तरह जीवन की रक्षा करनेवाली या शरीर की तकलीफों को दूर करनेवाली दवाएँ , ऋतुओं के प्रकोप से बचाने के लिए घर , ये सब उपभोग की वस्तुएं हैं । औरतों और मर्दों द्वारा एक दूसरे को आकर्षित करने के श्रृंगार के कुछ साधन भी उपभोग की वस्तुओं में आते हैं ।यह बिलकुल प्राकृतिक और स्वाभाविक जरूरत है । मनुष्य में ही नहीं , पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों में भी नर और मादा के बीच आकर्षण पैदा करने के लिए सुन्दर रंगीन बाल , रोयें और पंख , भड़कीले रूप , मीठे संगीतमय स्वर तथा तरह-तरह की गंध प्रकृति की देन हैं । इन सब गुणों की उपयोगिता जीवों में विभिन्न मात्रा में रूप , रंग , गंध , स्वर आदि के प्रति स्वभाव से प्राप्त आकर्षण से आती है । यही स्वाभाविक आकर्षण एक ऊँचाई पर मनुष्यों में सौन्दर्यबोध को जन्म देता है । इसी बोध से मनुष्य विभिन्न कलाओं और विज्ञान को जन्म देता है । अपने परिवेश को नृत्य , संगीत , चित्र , मूर्ति आदि से सजाना या साहित्य और विज्ञान के जरिए अपने वातावरण का प्रतीकात्मक अनुभव करना , मनुष्य को सबसे ऊँचे दर्जे का आनन्द देता है । इस प्रक्रिया में निर्मित कलावस्तु , पुस्तक आदि सब मनुष्य के स्वाभाविक उपभोग के क्षेत्र में आते हैं । संक्षेप में उपभोग की वस्तुएँ वे हैं , जिसके अभाव में हम स्वाभाविक रूप से अप्रीतिकर तनाव का अनुभव करते हैं , चाहे वह भोजन के अभाव में भूख की पीड़ा से उत्पन्न हो अथवा संगीत एवं कलाओं के अभाव में नीरसता की पीड़ा से।

इसके विपरीत ऐसी वस्तुएँ , जो वास्तव में मनुष्य की किसी मूल जरूरत या कला और ज्ञान की वृत्तियों की दृष्टि से उपयोगी नहीं हैं लेकिन व्यावसायिक दृष्टि से प्रचार के द्वारा उसके लिए जरूरी बना दी गयी हैं , उपभोक्तावादी संस्कृति की देन हैं । पुराने सामंती या अंधविश्वासी समाज में भी ऐसी वस्तुओं का उपभोग होता था जो उपयोगी नहीं थीं बल्कि कष्टदायाक थीं - उदाहरण के लिए चीन में कुलीन महिलाओं के लिए बचपन से पाँव को छोटे जूते में कसकर छोटा रखने का रिवाज । लेकिन यह प्रचलन औरतों की गुलामी और मर्दों की मूर्खता का परिणाम था । अत: शोषण की समाप्ति या चेतना बढ़ने के साथ इसका अंत होना लाजमी था । लेकिन उपभोक्तावादी संस्कृति ऐसी वस्तुओं को शुद्ध व्यावसायिकता के कारण योजनाबद्ध रूप से लोगों पर आरोपित करती है और मनोविज्ञान की आधुनिकतम खोजों का इसके लिए प्रयोग करती है कि इन वस्तुओं की माया लोगों पर इस हद तक छा जाये कि वे इनके लिए पागल बने रहें ।

विज्ञापन का जादू

एक उदाहरण बालों को सघन और काला रखने की दवाओं तथा तेलों का है । सर्वविदित है कि अभी तक बालों को गिरने या सफेद होने से रोकने का कोई उपचार नहीं निकला है । लेकिन हर रोज

ऐसे विज्ञापन निकलते रहते हैं जो लोगों में यह भ्रम पैदा करते हैं कि किसी खास दवा या तेल से उनके बालों की रक्षा हो सकती है और इनसे प्रभावित हो कर लोग इन उपचारों पर अंधाधुंध खरच करते हैं । यही हाल दाँत के सभी मंजनों का है । अभी तक कोई ऐसा मंजन नहीं निकला है जो दाँतों की बीमारियों को दूर करे या उन्हें रोग लगने से बचाये। फिर भी पत्र-पत्रिकाओं के पृष्ठ चमकीले दाँतों वाली महिलाओं की तस्वीरों से भरे रहते हैं जो किसी न किसी कम्पनी के मंजन के चमत्कार के रूप में अपने दाँतों का प्रदर्शन करती होती है । एक के बाद एक सभी दाँतों के खराब हो जाने के बाद भी लोग उपचार कि दृष्टि से मंजनों की निरर्थकता नहीं देख पाते । ऐसा गहरा असर इस प्रचार के जादू का होता है । यह स्थिति बिलकुल अशिक्षित समाज में जादू-टोने के प्रति फैले अन्धविश्वास से भिन्न नहीं है । लेकिन इस अन्धविश्वास के शिकार मूल रूप से शिक्षित कहे जाने वाले लोग ही हैं ।

किसी विशेष कम्पनी की साड़ी में सजी सुन्दर औरत , सूट में सजा सुन्दर नौजवान , कोका-कोला की बोतलें लिए समुद्र तट के रमणीक महौल में खड़े सुन्दर स्त्री-पुरुष , विशेष कम्पनी के बेदिंग सूट में समुद्र तट पर क्रीड़ा करती बालाएँ । इन सब के भड़कीले इश्तहार एक ऐसा मानसिक महौल तैयार करते हैं कि लोग मॉडलों (इश्तहार के सुन्दर स्त्री-पुरुष) की सुन्दरता का राज विभिन्न तरह के परिधानों और कोका-कोला में देखने लगते हैं । बड़ी तोंदवाले लालाजी और दो क्विंटल वजनवाली सेठानी भी इन कम्पनियों का सूट या बेदिंग सूट पहने विज्ञापन के मॉडलों जैसे अपने रूप की कल्पना करने लगती हैं । फिर दुकान में इन कम्पनियों के परिधानों और कोका-कोला की तलाश शुरु हो जाती है । इस तरह धीरे-धीरे सुन्दरता का अर्थ मनुष्य की स्वाभाविक सुन्दरता , जो उसके स्वास्थ्य और स्वभाव से आती है , नहीं रहकर खास-खास कम्पनियों के बने मोजे से ले कर टोपी तक में सजावट बन जाता है । सुन्दरता का मतलब खास तरह के परिधानों में सजना या खास तरह के क्रीम पाउडर से पुता होना बन जाता है । सुन्दर शब्द भी अब फैशन से बाहर होता जा रहा है , उसका स्थान 'स्मार्ट' ने ले लिया है जिसका सीधा सम्बन्ध , लिबास सजधज और अप-टू-डेट आदि से है । प्रचलित फैशन से सुन्दरता की परिभाषा कैसे बदल सकती है उसका एक उदाहरण हम रंग की मैचिंग में देख सकते हैं । सौन्दर्य की दृष्टि से एक ही रंग की मैचिंग यानी एक ही रंग का सारा लिबास रखना , भोंडी चीज है । सौन्दर्य रंगों की विविधता और उनके उपयुक्त संयोजन से आता है । इसी कारण राजस्थान की सरल ग्रामीण महिलाएँ अपने सस्ते लिबास में भी रंगों के उचित संयोजन से जहाँ इकट्ठी होती हैं फूलों की क्यारियों सी सज जाती हैं । लेकिन मैचिंग का पागलपन सवार हो जाने से जहाँ एक हैण्डबैग , एक जोड़ा जूता या चप्पल तथा एक रंग की लिपिस्टिक से काम चल सकता था वहाँ अब हर कपड़े के रंग के साथ सब कुछ उसी रंग का होना चाहिए ।इस तरह अब एक की जगह आधे दर्जन सामान खरीदने की जरूरत हो जाती है । पर सबसे हास्यास्पद तो यह होता है कि काले या नीले कपड़ों से मैच करने के लिए लाल होंठोंवाली

सुन्दरियाँ होंठ काले या नीले रंग में रंगने लगती हैं । इस तरह की मूर्खतापूर्ण सजावट का फैशन फैलाने से लिपिस्टिक बनाने वाली कम्पनियों को अपना व्यापार बढ़ाने का सीमाहीन सुयोग प्राप्त हो जाता है ।

यह सोचा जा सकता है कि अगर भिन्न रंग के कपड़े इकट्ठे हो गये तो वे हि कपड़े अदल-बदल कर ज्यादा दिन पहने जा सकते हैं । लेकिन ऐसा भी नहीं हो पाता , क्योंकि एक सुनियोजित ढंग से फैशन-प्रदर्शनों और प्रचार के द्वारा ऐसा मानसिक वातावरण तैयार कर दिया जाता है कि फैशन जल्दी-जल्दी बदल जायें । इस साल का बनाया कपड़ा अगले साल तक फैशन के बाहर हो जाता है और लोग इसका साहस नहीं जुटा पाते कि 'संभ्रान्त' लोगों की मंडली या दफ्तर आदि में ऐसे 'आउट ऑफ डेट' लिबास में पहुँचें ।इस तरह धड़ल्ले से कपड़े , जूते , टोपी आदि का बदलाव होता रहता है । लोग मजबूरी में ही एक दो साल पहले का बनाया हुआ कोई कपड़ा पहनते हैं । पश्चिमी देशों में तो एक तरह की 'थ्रो अवे' संस्कृति , (जिसकी छाया हमारे यहाँ भी पड़ रही है) फैल रही है , यानी ऐसी चीजों का उत्पादन और प्रयोग बढ़ रहा है जिन्हें कुछ समय या एक ही बार उपयोग में लाकर फेंक दिया जाय ।

लेकिन इस संस्कृति को फैलाने के लिए की जाने वाली विज्ञापनबाजी का बोझ भी वे ही लोग ढोते हैं जिनके सिर पर यह संस्कृति लादी जाती है । सबसे पहले तो कम्पनियों द्वारा प्रचारित वस्तुओं की कीमत का एक बड़ा हिस्सा विज्ञापन पर खरच होता है । कभी-कभी तो कम्पनियाँ उत्पादन से अधिक खरच अपनी वस्तुओं को प्रचारित करने में करती हैं । इस विज्ञापनबाजी के लिए काफी खरचीले शोध होते रहते हैं । पर परोक्ष रूप से विज्ञापन का बोझ फिर दुबारा उपभोक्ताओं पर ही पड़ता है । विज्ञापन पर किए गए खरच को अपनी लागत में दिखलाकर कम्पनियाँ आयकर में काफी कटौती करा लेती हैं । कम्पनियों पर की कटौती से आम लोगों पर वित्तीय बोझ बढ़ता है । इस तरह विज्ञापनबाजी से लोगों पर दुहरी आर्थिक मार पड़ती है ।

कृत्रिमता ही जीवन

कृत्रिम शहरी वातावरण में , जो उपभोक्तावादी संस्कृति का परिवेश है , फूलों की गंध , हरियाली , सूरज , चाँद और खुला आकाश मनुष्य के अनुभव या सौन्दर्यबोध के दायरे से बाहर चले जाते हैं । इनकी जगह कृत्रिम से प्रकाशित एवं सँवारा गया वातावरण , नकली घास और फूल तथा कृत्रिम सुगंधित द्रव्य लोगों का वातावरण बनाते हैं । कृत्रिम जरूरतों के दबाव में आदमी की स्वाभाविक शारीरिक और मानसिक भूख दब जाती है ।फिर तरह तरह के चटखारों से कृत्रिम भूख जगायी

जाती है । चूँकि इस भूख का मनुष्य की प्रकृति से कोई सम्बन्ध नहीं होता इसे किसी भी चीज के लिए किसी भी हद तक उकसाया जा सकता है । शायद इस संस्कृति की अन्तिम परिणति उस समाज में होगी जहाँ जीव विज्ञान की 'जेनेटिक इंजीनियरिंग ' जैसी उपलब्धियों का प्रयोग कर मनुष्य के स्वाभाविक सौन्दर्यबोध को भ्रूणावस्था में ही समाप्त कर दिया जाएगा । इस तरह स्वभावगत सौन्दर्यबोध के नष्ट होने से भोंड़े फैशनों के प्रतिरोध का अन्तिम आधार भी खत्म हो जाएगा , और तब सुन्दर का अर्थ सीधा शक्तिशाली कम्पनियों द्वारा निर्मित और प्रचारतंत्र द्वारा प्रचारित प्रसाधन और परिधान का उपभोग करना ही हो जाएगा ।

संक्षेप में उपभोक्तावादी संस्कृति का यह गुण है कि वह अनावश्यक वस्तुओं को मनुष्य के लिए आवश्यक बना देती है और इस तरह मनुष्य की सीमित आवश्यकताओं को सीमाहीन । चूँकि आवश्यकताएँ सीमाहीन बन जाती हैं लोग दिन-रात , सारी जिन्दगी एक न एक वस्तु जुटाने में लगे रहते हैं । आदमी पर एक तरह से गुलामी हावी हो जाती है । प्रम्परागत शोषक समाजों में भी विशिष्टता जाहिर करने के लिए कुछ अनावश्यक वस्तुओं के उपभोग की ओर रुझान था । लेकिन लोगों की वस्तुपरक दृष्टि को नष्ट करने का आज जैसा विज्ञापन और प्रचार का कोई अभियान नहीं होने के कारण इसके प्रति एक आलोचनात्मक दृष्टि और निषेध भाव भी बना रहता था । अधिकांश पर्म्परागत धर्मों में अति ठाटबाट या असंतुलित उपभोगवृत्ति को निन्दनीय माना जाता था । चूँकि उपभोक्तावादी संस्कृति का आधार व्यावसायिकता है , उसने उपभोग को ही धर्म के रूप में खड़ा कर दिया है और इस तरह उपभोग की वृत्ति बे-रोकटोक आगे बढ़ती जाती है।

<u>उपभोक्तावादी-संस्कृति का विकास</u>

अब प्रश्न उठता है कि यह उपभोक्तावादी संस्कृति कैसे विकसित हुई ? इस समस्या पर विचार करने पर हम पायेंगे कि यह मूल रूप से पूँजीवादी उत्पादन और वितरण प्रणाली की उपज है । समाज के हर क्षेत्र के व्यावसायीकरण की प्रक्रिया में पूँजीवादी समाज ने मनुष्य की सहज उपभोगवृत्ति का व्यावसायीकरण कर इस संस्कृति को जन्म दिया है । वैसे अंकुर रूप में जैसा कि ऊपर बतलाया गया है शोषण पर आधारित हर समाज में शोषकों में कुछ बे-जरूरत की वस्तुओं के उपभोग की ओर रुझान रहा , जिससे वे समाज पर अपनी विशिष्टता की धाक जमा सकते थे । लेकिन ऐसा तब होता था जब शोषण या लूट-खसोट से प्राप्त धन से शासकों का वैभव उफनता था और वे अपने अतिरिक्त धन को देश-विदेश से उपलब्ध परम्परागत शान-शौकत की वस्तुओं पर खर्च करते थे । इस प्रक्रिया की शुरुआत धन की विपुलता से होती थी और फिर उन वस्तुओं की तलाश होती थी या उन्हें बनवाया जाता था जिनका उपभोग शासक वर्ग को गौरवान्वित कर सके। पूँजीवादी व्यवस्था में प्रक्रिया बिल्कुल उलट गयी है । इसमें पहले खरचीली शोध के जरिए हर रोज

नये तरह के उपभोग के सामान ईजाद किये जाते हैं , जिसमें कुछ बिल्कुल नयी किस्म के होते हैं , और कुछ पुरानी उपभोग की वस्तुओं का स्थान ग्रहण करते हैं ।इसके बाद इन्हें प्रचारित कर इनके लिये बाजार पैदा किया जाता है । फिर इस प्रचार से प्रभावित लोग इन्हें प्राप्त करने के लिए आर्थिक साधन की तलाश करते हैं । इसके लिए अक्सर वर्षों के लिए अपना श्रम बंधक रखकर निम्न मध्यमवर्ग और निम्नवर्ग के लोग ' हायर परचेज़' के आधार पर सामान खरीद लेते हैं और फिर अपनी आमदनी में से किस्तों में सूद के साथ पैसा भरते रहते हैं । मोटरगाड़ियाँ ,फ्रीज , टी.वी. , आदि अक्सर इसी तरह मध्यमवर्ग और पश्चिम के मजदूर वर्ग के घरों को सुशोभित करते हैं । इस तरह भविष्य की कमाई गिरवी रख कर भी वस्तुओं की भूख मिटाई जाती है । वास्तव में मनुष्य स्वयं इन वस्तुओं को लेकर खुद बन्धक बन जाता है । वह आजादी के साथ अपने जीवन के विषय में कोई निर्णय नहीं ले सकता क्योंकि उसके सक्रिय जीवन का हर वर्ष पेशगी में उन कम्पनियों या बैंकों को दिया जा चुका होता है जिनकी सेवा कर वह खरीदी गयी वस्तुओं का कर्ज चुकायेगा । इस तरह मनुष्य उपभोग की वस्तुओं का बँधुआ मजदूर बन जाता है ।

पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली की एक विशेषता यह है कि वह उत्पादन की प्रक्रिया में उत्पादक मजदूर से सृजन का सुख छीन लेती है । यह विशेषता इसे शोषण पर आधारित सभी पिछली उत्पादन प्रणालियों से अलग कर देती है । गुलामी की व्यवस्था , सामंती या भारत की जाति व्यवस्था में भी असली उत्पादक शोषण के शिकार थे और समाज में वे निरादर के पात्र थे । फिर भी इन व्यवस्थाओं में शिल्पी मजदूर वस्तुओं के निर्माण की पूरी प्रक्रिया पर अधिकार रखते थे । इस तरह वे अपनी रुचि और कौशल के अनुसार वस्तुओं का निर्माण करते थे और इसमें उन्हें एक सीमा के भीतर सृजन का सुख मिलता था । जीवन के अन्य क्षेत्रों में कुंठित उनकी आकांक्षाएँ , संवेदनशीलता और कल्पना सभी इन वस्तुओं में समाहित होती थीं । उदाहरण के लिए एक कुम्हार की सारी संवेदना और कल्पना उसकी उंगलियों के स्पर्श से उसके घड़े या अन्य बरतनों के आकार में व्याप्त हो एक आत्मीय रूपाकार देती थी । फिर वह अपनी रुचि से उन्हें पकाने के पहले विभिन्न रंगों और रूपों से सजाता था । फलस्वरूप उसके बरतनों में वैयक्तिक अभिव्यक्ति होती थी । ऐसे ही कारणों से युनान , मध्ययुगीन यूरोप या प्राचीन भारत की स्थापत्यकला , मूर्तिकला या रोजमर्रा के उपयोग की वस्तुओं में हम किसी न किसी स्तर की कलात्मकता पाते हैं । कहीं-कहीं तो यह कलात्मकता चरम बिन्दु को छू लेती है ।

इसके विपरीत पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली ने शुरु से ही जल्द और थोक उत्पादन की पद्धति को प्रोत्साहित करने के लिए वस्तुओं के खंडित उत्पादन की प्रक्रिया अपनायी । इसमें एक ही वस्तु के निर्माण के विभिन्न स्तरों को विभिन्न लोगों को बाँट दिया गया और किसी भी निर्माता श्रमिक का नियंत्रण पूरी वस्तु के स्वरूप के निर्माण पर नहीं रहा । उत्पादक अब पूँजीपति थे जो तय करते थे

कि क्या निर्मित होगा और अपनी योजना के हिसाब से वे काम का बँटवारा विभिन्न श्रमिकों में करते थे। 'शिल्पियों' का स्थान अब श्रमिकों ने ले लिया। पूँजीवादी व्यवस्था के प्रारम्भ में पूँजीपति स्वतंत्र श्रमिकों को काम बाँटते थे , बाद में उन्हें एक जगह कारखाने में आकर काम करने के लिए मजबूर किया गया। कालान्तर में जब भाँप और बिजली से चालित मशीनों का आविष्कार हुआ तब से मजदूर मशीनों के गुलाम बन गये और उन्हें अपना काम और अपनी गति मशीनों के अनुरूप बनानी पड़ी। उत्पादन प्रक्रिया में अब श्रमिकों के निजी कौशल का स्थान एकरसता ने ले लिया। उत्पादन का प्रधान गुण 'स्टैंडर्डाईजेशन' (एक मानक के भीतर उत्पादन) बन गया। वस्तुओं की विविधता भी श्रमिकों की सृजनात्मकता के साथ समाप्त हो गयी। उत्पादित वस्तु और उत्पादक मजदूर दोनों से उनकी अपनी विशिष्टता छीन ली गयी।

इस उत्पादन पद्धति का सबसे विकसित रूप आधुनिक कारखाने की एसेम्बली लाइन है। ये कारखाने 'कन्वेयर बेल्टों' का जाल होते हैं जिसके जरिए विभिन्न हिस्सों से मशीन के पुर्जों के हिस्से प्रवाहित होते रहते हैं। अलग - अलग बिन्दुओं पर अलग -अलग मजदूर विभिन्न औजारों से पुर्जों में थोड़ा कुछ जोड़ते जाते हैं ।इस तरह यह पुर्जा तैयार होकर उस बिन्दु पर पहुँचता है जहाँ उसे कोई दूसरा मजदूर किसी और पुर्जे के साथ जोड़ता है। इस प्रक्रिया के अन्त में पूरी मशीन , मोटरगाड़ी , साइकिल आदि हमें तैयार रूप में मिलते हैं। पूरी मशीन की रूपरेखा कुछ विशेषज्ञों द्वारा तैयार किसी ब्लूप्रिंट (नक्शे) में होती है। कारखाने में काम करने वाले मजदूर कठपुतलियों की तरह चन्द सेकेण्ड या चन्द मिनट तक मशीन की गति के हिसाब से कुछ यांत्रिक क्रिया अपने पूरे कार्यकाल में दोहराते जाते हैं। मजदूरों को इस तरह एक यन्त्र के रूप में परिवर्तित कर देने का एक फायदा पूँजीपति वर्ग को यह हुआ है कि आवश्यकता के अनुसार वे मजदूरों की जगह कम्प्यूटरों से उनका अधिकाधिक काम करा सकते हैं। मजदूर रखे जायें या कम्प्यूटर , यह सिर्फ इस बात पर निर्भर करता है कि कौन सस्ता पड़ता है।

इस उत्पादन प्रणाली में मजदूरों को न तो साँस लेने की फुरसत मिलती है और न ही सृजन का सुख क्योंकि उन्हें मशीन की गति से चलना होता है और दूसरे , उन्हें अपने काम की रूपरेखा की भी कोई जानकारी नहीं होती। इसी प्रक्रिया को कार्ल मार्क्स ने आधुनिक उद्योगों के प्रारम्भिक काल में 'एलियेनेशन' (आत्मदुराव) की संज्ञा थी जिसमें मजदूरों का निजत्व जो उनकी श्रम प्रक्रिया से जुड़ा है उससे अलग हो जाता है और यह श्रम जब उत्पादन के जरिए पूँजी का रूप ग्रहण कर लेता है तो फिर मजदूरों के शोषण का औजार बन जाता है।

औद्योगिक मानसिकता

थोक पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली के विकास और पूँजीवादी व्यवस्था के वर्चस्व के साथ तेजी से बड़ी मात्रा में उत्पादन अब जीवन के हर क्षेत्र का लक्ष्य बन गया । एसेम्बली लाइन अब कारखाने की छत के नीचे ही सीमित नहीं रही सारी दुनिया इसके दायरे में आने लगी । उत्पादन के क्षेत्र में अब पूरे देश से या दुनिया भर से अर्ध तैयार सामान को किसी बड़ी जानी-मानी कम्पनी की छत्रछाया में इकट्ठा कर अन्तिम रूप दिया जाने लगा । धीरे-धीरे पूँजीवादी उत्पादन की आवश्यकता और इसके मानक पूरे समाज पर हावी होने लगे , खास तौर से शिक्षा व्यवस्था और बौद्धिक क्षेत्र में यह पूरी तरह से हावी हो गया है । अब शिक्षा और शोध संस्थान भी औद्योगिक प्रतिष्ठानों के ढाँचे पर एसेम्बली लाइन का रूप ग्रहण करने लगे हैं । शिक्षा का उद्देश्य जीवन और उसकी समस्याओं को समझना और उनके मानवीय दायित्वों के लिए शिक्षार्थियों को तैयार करने के बजाय औद्योगिक समाज की तकनीकी आवश्यकताओं की पूर्ति करना बन गया है । औद्योगिक उत्पादन की प्रक्रिया की तरह शिक्षा और शोध भी खंडित हो गये हैं जिसके उद्देश्य छोटे-छोटे क्षेत्रों के विशेषज्ञ पैदा करना भर हो गया है । ऐसे विशेषज्ञ अक्सर अपने विषय के पूर्ण स्वरूप और समस्याओं से अनभिज्ञ होते हैं । हजारों लोगों द्वारा अपने-अपने क्षेत्रों में किये जा रहे शोध कार्यों के उद्देश्य का ज्ञान सिर्फ उन वृहत प्रतिष्ठानों को होता है जो उनके शोध का उपयोग किसी खास उद्देश्य के लिए करते हैं । इनमें बड़ी संख्या में औद्योगिक या सरकारी प्रतिष्ठान होते हैं । ये प्रतिष्ठान विश्वविद्यालयों को विशेष तरह की शिक्षा या शोध के लिए अनुदान देते हैं जिसके बिना बड़े पैमाने पर शिक्षा या शोध के काम नहीं हो सकते । इस तरह शिक्षा-व्यवस्था पर औद्योगिक प्रणाली के मूल्य हावी होते जा रहे हैं । उद्योगों की मानसिकता अब इस हद तक व्यापक होती जा रही है कि कलाकार , साहित्यकार , लेखक , समाजशास्त्रियों के 'वर्कशॉप' गठित होने लगे हैं जो एक हद तक पूँजीवादी समाज में लोगों की बनती हुई स्थिति का प्रतीक भी है । पूँजीवादी समाज में कला, साहित्य या समाजशास्त्र , सभी का अन्तिम मूल्य बाजारू मूल्य बन जाता है , जिसमें महत्व इस बात का नहीं है कि किसी कलाकार या साहित्यकार ने कितनी गहरी अनुभूति या मानवीय सत्य को सफल अभिव्यक्ति दी है बल्कि यह है कि उसने एक व्यावसायिक समाज की जरूरत के हिसाब से कितना खपत के लायक माल तैयार किया है । अगर इस दूसरी कसौटी पर उसका माल ठीक उतरता है तो फिर उनकी सफलता निश्चित है । फिर रेडियो , पत्र और अखबारों की सुर्खियों से रंगकर वह ख्याति प्राप्त लेखक या कलाकार बन जायेगा ।

एसेम्बली लाइन से जुड़े कलाकार , विचारक और साहित्य का को बस उस चीज का अधिकार नहीं है जिसको पूर्ववर्ती समाज में उनकी सबसे बड़ी निधि माना जाता था - एक हद का एकान्त जीवन और चिन्तन , क्योंकि उन्हें सब कुछ औरों के साथ औरों के चिन्तन से जुड़ कर करना है । एक हद तक कला और साहित्य सदा कलाकार-साहित्यकार के एक समुदाय के भीतर विकसित होते थे । इसमें विचारों के आदान प्रदान और चयन से मौलिक चीजें निकलती थीं । लेकिन यह

नया समुदाय व्यावसायिक समुदाय है जिसमें कलाकार या साहित्यकार को विशेष योजना के भीतर 'इकट्ठा' शब्द के असली अर्थ में एक छत के नीचे इकट्ठा किया जाता है । पुस्तक की कल्पना या संयोजन अब लेखक का निजी मामला नहीं । इसके लिए उन्हें पहले प्रकाशकों की योजना को जानना समझना होता है और फिर उसके अनुसार लिखना होता है । इसके बाद भी अगर प्रकाशकों के हिसाब से बात ठीक नहीं बन पायी तो आधे दर्जन सम्पादक उसे काट छाँट और संवर्धित कर उस रूप में ला देंगे जो बाजार की चाह के मुताबिक है । अगर लेखक को जीना है तो अपना नाम भर इस रचना को दे देना है जो वास्तव में उसकी नहीं रही । अगर लेखक के अहम को यह मंजूर नहीं तो भूखों मरने का एकान्तिक सुख का द्वार उसके लिए खुला है ।

<u>खोखलेपन का संसार</u>

ऐसे समाज में धीरे-धीरे आदमी की संवेदनशीलता और सृजनशीलता नष्ट होती चली जाती है । आदमी का जीवन यान्त्रिक होता जाता है और इस तरह आध्यात्मिक रूप से - आध्यामिकता धार्मिक अर्थ में नहीं बल्कि इस अर्थ कि आदमी में जीवन की सार्थकता जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति की चिन्ता से ऊपर उठकर चेतना की दुनिया में निवास करने में ही होती है - आदमी खोखला हो जाता है । अगर आदमी का जीवन खोखला हो गया है उसमें निरसता और ऊब पैदा हो गयी है तो फिर उसको भरने के लिए कुछ चाहिए । उपभोक्तावादी संस्कृति आदमी की इस आध्यात्मिक भूख को कारखाने निर्मित सामानों से भर कर मिटाने का उपाय है ।

इसके अलावा सृजनात्मकता के अभाव में आदमी का अस्मिताबोध खतम होता जाता है । इसके विपरीत जब आदमी अपनी भावनाओं के अनुरूप कुछ भी बनाता है तो उसमें उसके अपनेपन की अभिव्यक्ति होती है और इससे निजत्त्वबोध का जन्म होता है । ऐसा आदमी अपने को निजी मूल्यों की कसौटी पर कसना चाहता है । लेकिन सृजन प्रक्रिया से रिक्त आदमी हमेशा अपने को दूसरों की निगाह से तौलता है । इससे नकलचीपन और फैशनपरस्ती आती है । वह सोचता है जो सब रखते हैं उसे रखने से , जैसा सब सोचते हैं वैसा सोचने से समाज में उसकी कोई स्थिति बन पाएगी । ऐसे आदमी का स्वभाव अपने को दूसरे के अनुरूप बनानेवाला हो जाता है और ऐसा आदमी भावनात्मक रूप से दूसरों पर आश्रित होता है । वह अधिनायकवादी व्यवस्था में ज्यादा इतमीनान महसूस करता है क्योंकि इसमें वह अपने बारे में बहुत सारे निर्णय लेने से मुक्त हो जाता है ।या मोटे तौर पर वह यह सोचने लगता है कि जैसा सब सोचते हैं वही ठीक है ।एक तरह से इससे भीड़तंत्र की भूमिका तैयार होती है । लेकिन यह यह फटेहालों की भीड़ नहीं होती - नवीनतम परिधानों और क्रीम पाउडर में सजे-धजे बाहर से अति सुसंस्कृत लगनेवाले लोगों की भीड़ होती है । लेकिन थोड़ा कुरेदने पर इन परिधानों के भीतर से खोखलापन झाँकने लगता है । हल्की चोट लगते ही सब ढोल

की तरह एक सी आवाज निकालने लगते हैं । इसकी परीक्षा किसी भी फैशनेबुल जमात के बीच लोक से हट कर कोई विचार व्यक्त करके तुरन्त हो सकती है । ऐसे लोगों की प्रतिक्रियाएँ सुनने लायक होती हैं ।

वस्तुओं को जमा करने की लत

पहले उत्सवों में आनन्द के लिए शराब पी जाती थी । अब जीवन की नीरसता और ऊब से छुटकारे के लिए शराब पी जाती है । इस तरह उन समूहों में जिनका काम सबसे नीरस है या जिन्दगी अर्थहीन बन गयी है शराबीपन सब से अधिक फैल रहा है । लेकिन शराब , चाय , कॉफी या कोकाकोला का नशा थोड़ा सीमित है । जो सबसे बड़ी अफ़ीम लोगों को अपनी स्थिति को भूलने के लिए इस संस्कृति ने दी है वह उपभोग की वस्तुओं को जमा करने की लत है । यह अधिक से अधिक समय तक लोगों को व्यस्त रख सकती है । कुछ समय दुकानों की सजी खिड़कियों में झाँक कर नयी वस्तुओं के 'अन्वेषण' में लगता है , फिर कुछ समय उन्हें उपलब्ध करने या उसके लिये साधन जुटाने की योजना में और अन्त में घर में लाने पर उनके रख-रखाव में । धर्म नहीं , जैसा मार्क्स ने कहा था , आधुनिक युग की अफ़ीम तो उपभोक्तावादी हवस है । इस हवस के अधीन होने पर वस्तुओं को पाने की कल्पना में मजदूर भी अपनी सामाजिक स्थिति भूल जाता है और अपने वर्ग स्वार्थ की रक्षा के लिए शोषक वर्ग से संघर्ष करने के बजाय उस वर्ग की जीवन पद्धति की ओर ललचायी दृष्टि से देखने लगता है , और एक हद तक उसका प्रशंसक बनकर उसके मूल्यों को आत्मसात कर लेता है । पश्चिमी दुनिया में इस हवस के कारण समाज परिवर्तन की शक्ति बनने के बजाय , उपभोक्तावादी मूल्यों का शिकार मजदूर अब पूँजीवादी व्यवस्था का जबरदस्त स्तम्भ बन गया है ।

समता और बंधुत्व का लोप

मजदूर वर्ग की क्रान्तिकारिता का क्षरण समता और बन्धुत्व के मूल्यों को लाँघकर उपभोक्तावादी मूल्य अपनाने से ही हुआ है । उपभोक्तावादी समाज ने दो मान्यताओं को जन्म दिया है । एक तो - यह कि उपभोग की जो वस्तुएँ आज कुछ लोगों को उपलब्ध हैं वे धीरे - धीरे सबों को उपलब्ध हो सकती हैं , और दूसरा कि समता अपने-आप में कोई साध्य नहीं है। इस तरह समता और सम्पन्नता को दो विसंगतियों के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा है। चूँकि इस मत के अनुसार पूँजीवादी समाज सम्पन्नता दे सकता है अत: समता की बात अप्रासंगिक हो गयी है । उनके मुताबिक यह ठीक है कि कुछ लोग सीढ़ी के उच्चतम स्तरों पर हैं और बाकी के लोग नीचे की

सीढ़ियों पर , लेकिन चूँकि ये सीढ़ियाँ 'एस्केलेटर' (चलती यांत्रिक सीढ़ी जिस पर चढ़ते ही अपने आप आदमी ऊपर पहुँचने लगता है) की हैं सारे लोग ऊपर जा रहे हैं - नीचेवाले भी और जो ऊपर हैं वे भी ।अगर इन दोनों के बीच की दूरी नहीं मिटती , अगर उनके बीच बीसियों स्तरों के भेद हैं तो क्या फरक पड़ता है ? सच तो यह है कि उपभोक्तावादी संस्कृति समाज को , किसके पास क्या उपभोग की वस्तुएँ उपलब्ध हैं इस आधार पर असंख्य वर्गों में बाँटती जाती है और उनके बीच भावनात्मक भेद पैदा करती है । कोई आश्चर्य की बात नहीं कि मार्क्स की कल्पना के विपरीत पश्चिम के विकसित पूँजीवादी समाज में , जहाँ उपभोक्तावाद पूरी तरह हावी है , मजदूरों की वर्ग चेतना नष्ट हो गयी और बड़ी तादाद में मजदूर अपने को भावना के स्तर पर मध्यम वर्ग में शामिल करने लगे हैं क्योंकि मालिक मजदूरों के भेद के बजाय उपभोक्तावादी मान के हिसाब से , मजदूरों के आपसी भेद रोजमर्रा की जिन्दगी में ज्यादा उजागर होते रहते हैं ।

मजदूरों की चेतना पर उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रभाव का एक आँख खोलनेवाला परिणाम १९६८ में फ्रांस में देखने को मिला ।उस समय पश्चिमी देशों के युवा वर्ग और खासकर छात्रों में पूँजीवाद और उससे जुड़े उपभोक्तावादी मूल्यों के विरुद्ध एक व्यापक विद्रोह की लहर दौड़ गयी थी । इसका एक ऐसा विस्फोट १९६८ के मई महीने में फ्रांस में हुआ कि वहाँ की हुकूमत गहरे संकट में पड़ गयी थी ।सौरबोन विश्वविद्यालय के छात्रों ने नगर में बैरिकेड (विद्रोह के समय ईंट-पत्थर तथा अन्य सामानों का अवरोध खड़ा कर एक तरह की अस्थायी किलेबन्दी जिसकी यूरोप की क्रान्तियों में एक लम्बी परम्परा रही है ।) खड़ा करना शुरु किया । विद्रोह की शुरुआत उपभोक्तावादी मूल्यों की प्रतीक मोटरगाड़ियों के जलाने से हुई । लेकिन मजदूर वर्ग और स्वयं कम्यूनिस्ट पार्टी उपभोक्तावादी समाज के दबावों से पक्षाघात का शिकार हो चुके थे और दोनों अनिर्णय की स्थिति में रहे या आन्दोलन के विरोध में रहे । इस तरह मजदूरों के समर्थन के अभाव में यह विद्रोह क्रान्ति का रूप ले सके इसके पहले ही समाप्त हो गया ।

अगर हम अपने समाज पर ही नजर डालें तो पायेंगे कि कैसे उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रभाव से लोगों का आपसी विभाजन गहरा हो रहा है । जाति-व्यवस्था के तमाम दोष अपनी जगह पर हैं , लेकिन कुछ दशक पहले तक कम से कम जाति बिरादरी वालों में आपस में एक बराबरी का सम्बन्ध था जिसका प्रतीक साथ का हुक्का- पानी हुआ करता था । लेकिन जैसे-जैसे इस नयी संस्कृति ने अपना प्रभाव बढ़ाया है , गाँवों में भी कुछ सम्पन्न लोगों के घरों में सोफासेट , टेपरेकार्डर आदि आने लगे हैं । अब चटाई पर बैठने वाले और सोफा पर बैठनेवाले एक ही बिरादरी के लोगों के बीच एक बड़ी दीवार खड़ी हो रही है । यह कहना ज्यादा सही होगा कि बिरादरी के बाहर सोफासेट वालों की एक अलग बिरादरी खड़ी हो रही है । इस तरह जहाँ थोड़ा बहुत समुदाय का भाव था वह भी नष्ट होता जा रहा है । वस्तुओं की दीवारों से लोग एक-दूसरे से कटते जा रहे हैं ।

इसका एक परिणाम यह होता है कि आध्यात्मिक खोखलेपन से पैदा जिस ऊब से उबरने के लिए वस्तुओं का संग्रह किया जाता है , वह ऊब और भी बढ़ती जाती है ।

आदमी का अकेलापन

आदमी के अस्तित्व की सबसे बड़ी असलियत संसार में उसका अकेलापन है । हमारा क्या होता है , हम जीते हैं या मरते हैं , खुशियाँ मनाते हैं या पीड़ा में कराहते हैं इसका कोई प्रभाव सृष्टि पर नहीं पड़ता । सूरज , तारे , चाँद , धरती या हमारे आँगन में उगी घास या खिले फूल हमारी स्थिति से असम्पृक्त अपने निर्दिष्ट जीवन - पथ पर बढ़ते चले जाते हैं । इस बात के एहसास ने पश्चिम में अस्तित्ववादी दर्शन की ओर झुकाव पैदा किया , जिसमें ऊब और अनास्था का दारूण स्वर सुनाई पड़ता है । आदमी ने कला , विज्ञान आदि के जरिए इस दुनिया को अर्थवान- बनाकर एक सीमा तक अपने जीवन को भी अर्थवान यानी एक वृहत डिजाइन का हिस्सा बनाने की कोशिश की है । लेकिन आदमी चाहे जो कल्पना कर ले कभी भी प्रकृति के साथ सम्प्रेषण नहीं स्थापित कर सकता । उसके अकेलेपन को कोई सचमुच में अगर तोड़ सकता है तो दूसरा आदमी ही । अपनी सम्पूर्ण अनुभूति में आदमी फिर भी अकेला है और कोई उपाय नहीं जिससे वह अपनी पूरी अनुभूति को दूसरे के लिए संप्रेषित कर सके । लेकिन एक सीमा की भीतर भावों से , शब्दों से , संगीत से वह अपनी आंतरिक पीड़ा या खुशी दूसरे मनुष्यों तक पहुँचा सकता है । इस सम्प्रेषण से उसकी ऊब और उसका अकेलापन टूटता है । स्वभाव से आदमी अपने सुख और अपनी पीड़ा में अधिक से अधिक लोगों को शामिल करने में गहरे संतोष का अनुभव करता है । इसीलिए उसे विस्तृत मानव समुदाय की चाह होती है । कोई भी वस्तु जो उन्मुक्त सम्प्रेषण में रुकावट डालती है , वह आदमी के अकेलेपन को बढ़ाती है । उपभोक्तावादी संस्कृति वस्तुओं के आधार पर अलग - अलग घेरों में आदमी को बाँटकर सम्प्रेषण की संभावना को खतम करती है क्योंकि इससे उनके अनुभव की दायरे अलग हो जाते हैं जबकि सम्प्रेषण के लिए अनुभव के बीच सामंजस्य का होना आवश्यक है । इस तरह उपभोक्तावाद के कारण एक - दूसरे से कटे आदमी की ऊब और गहरी होती जाती है । इस ऊब से वस्तुओं की भूख और भी बढ़ती है। इस दुश्चक्र के कारण जीवन में सार्थकता की तलाश मृग-मरीचिका बन जाती है । इस दृष्टि से उपभोक्तावादी समतावादी संस्कृति के ठीक विपरीत स्थिति बनाती है ।

एकाकी सुख

यह कोई आकस्मिक बात नहीं कि उपभोक्तावादी समाज में मनोरंजन के साधन उत्तरोत्तर ऐसे बनते जा रहे हैं जिनमें सामूहिक आनन्द का स्थान एकाकी सुख ले रहा है । पहले सामूहिक नृत्य - गान आदि में एक मिली - जुली खुशी का अनुभव होता था । उपभोक्तावादी संस्कृति में मनोरंजन का प्रतीक और उसका सबसे विकसित साधन टेलिविजन है जिसमें कहीं किसी सामूहिक हिस्सेदारी की गुंजाइश नहीं होती । हर दर्शक अकेला , एक निर्जीव मशीन पर आँखें चिपकाये अपने तात्कालिक परिवेश से कटा बैठा रहता है । दर्शक टी.वी. पर विभिन्न भूमिकाओं में आनेवालों से बिल्कुल कटा होता है । दर्शक की खुशी या दुख की अभिव्यक्ति उसी तक सीमित रहती है । उसका कोई समुदाय नहीं बन पाता । अगर उनका कोई भावनात्मक लगाव बन पाता है तो उनके साथ जिनकी कोई भूमिका टेलिविजन पर होती है और जो स्वयं इस भावना से निर्लिप्त मात्र छाया हैं । फिर टेलिविजन के संचालकों द्वारा इस भावना का व्यावसायिक या राजनीतिक उपयोग दर्शकों को अपनी मरजी के अनुसार किसी दिशा में हाँकने के लिए किया जा सकता है । यह बिल्कुल एक तरफा व्यापार है जिसमें दर्शकों की अभिव्यक्ति की कोई सम्भावना नहीं बनती । प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में देवताओं की आकाशवाणी की तरह इसमें द्रष्टा - श्रोता के लिए सिर्फ संदेश - आदेश ही होते हैं जो निर्मम रूप से श्रोता - दर्शक की भावनाओं से असंपृक्त होते हैं क्योंकि टेलिविजन या रेडियो पर अभिनय करनेवाले , असली नहीं काल्पनिक लोगों के लिए अभिनय करते हैं । कहीं अभिनेता - वक्ता और दर्शक -श्रोता के बीच कोई फीडबैक (प्रतिक्रिया या परिणाम की जानकारी) नहीं होता जिससे कि अभिनेता-वक्ता अपनी भूमिका में लोगों की भावना के अनुरूप कोई रुझान लाने की जरूरत महसूस करे । कोई आश्चर्य नहीं कि सबसे पहले हिटलर ने रेडियो का लोगों को मानसिक रूप से बन्दी बनाने के लिए उपयोग किया था ।

पूँजीवाद के संकट को टालने का औजार

पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली से उपजी यह उपभोक्तावादी संस्कृति पूँजीवाद के संकट को टालने का भी सबसे कारगर औजार है । ऊपर इस बात की चर्चा की गयी है कि कैसे यह संस्कृति मजदूर वर्ग की वर्ग - चेतना और समाज - परिवर्तन की आकांक्षा को नष्ट करती है लेकिन इससे भी ज्यादा महत्त्वपूर्ण इसकी भूमिका पूँजीवादी उत्पादन को चालू रखने में है । वैज्ञानिक सूक्ष्मता के बिना भी मोटे तौर पर हम पूँजीवादी उत्पादन के आधार और उसकी समस्याओं को नीचे दिये गये ढंग से समझ सकते हैं जिसके पीछे मार्क्स तथा उसके समकालीन कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों का चिन्तन है ।

पूँजीवादी उत्पादन में पूँजीपतियों के मुनाफे का आधार मजदूरों के श्रम का शोषण होता है। उदाहरण के लिए अगर मजदूर किसी पूँजीपति के यहाँ ८ घण्टे काम करता है तो उसके एवज में वह अपने पूरे श्रम का मूल्य नहीं पाता । उसे ५ - ६ घंटे या और कम या अधिक समय के काम करने की ही मजदूरी मिलेगी । दो या तीन घंटे के श्रम से पैदा हुई वस्तु को ही जिसके बदले मजदूर को मजदूरी नहीं मिलती बेचकर मालिक यह अतिरिक्त मूल्य पाता है जो उसने मजदूरों की पूरी ८ घंटे मजदूरी में से काट लिया होता है । यही अतिरिक्त मूल्य जमा हो कर , क्योंकि ऐसा मूल्य उसे सैंकड़ो या हजारों मजदूरों से वर्षों तक प्राप्त होता रहता है , उसकी पूँजी का स्रोत बनता है । लेकिन यहाँ उत्पादित माल की खपत के लिए बाजार की समस्या पैदा हो जाती है । मजदूर ने तो ८ घंटे के काम के बराबर वस्तुओं का निर्माण किया है लेकिन अगर उसे ६ घंटे के काम की ही मजदूरी मिली तो वह ६ घंटे के काम के बराबर की ही वस्तुएं खरीद सकेगा । फिर सवाल उठता है कि जो बाकी २ घण्टे की मजदूरी से उत्पादित वस्तुएं होंगी उन्हें कौन खरीदेगा ? पूँजीपति खरीद सकते हैं । लेकिन हम सभी पूँजीपतियों को समेट कर एक काल्पनिक पूँजीपति के रूप में देखते हैं, तो पाते हैं कि चूँकि उसकी पूँजी का स्रोत वस्तुओं की बिक्री से प्राप्त मुनाफा है , अत: जब तक वस्तुओं की बिक्री नहीं होती पूँजीपति के हाथ में भी खरीदने के लिए पैसा नहीं होगा (यहाँ मान लिया गया है कि पूँजीवादी समाज में आमदनी के दो ही मूल स्रोत हैं , मजदूरों की मजदूरी और पूँजीपतियों का मुनाफा,बाकी सभी लोगों की आमदनी या तो पूँजीपतियों के मुनाफे से आती है य मजदूरों की मजदूरी से)। अगर पैसा हो भी तो पूँजीपति अपने तमाम मुनाफे के बराबर वस्तुओं को नहीं खरीद सकते क्योंकि उनकी संख्या सीमित है । अत: वे कितना भी खर्च उपभोग पर क्यों न करें , वे उत्पादित अतिरिक्त मूल्य के बराबर उपभोग पर खर्च नहीं कर सकते । इसका एक बड़ा अंश वे जरूरी उत्पादन वस्तुओं जैसे मशीन आदि के खरीदने पर खरच कर सकते हैं ।लेकिन अगर उपभोग की वस्तुओं की खपत रुकी रही तो उत्पादन पर लगी नयी पूँजी से जो नये उपभोग की वस्तुएं बनेंगी उनसे यह संकट और भी गहरा होगा क्योंकि जब तक मशीन से बनी वस्तुओं की खपत नहीं होती नयी मशीन बैठाना निरर्थक होगा , क्योंकि उत्पादित माल के लिए पहले ही से बाजार में मंदी है ।

कुछ हद तक सरकार पूँजीपतियों को इस संकट से बचाती है। वह नोट छाप कर पैसों का जुगाड़ कर देती है और इसमें कुछ सेवा-क्षेत्रों में खरच करते हैं पर वह विशेषकर युद्ध के सामान की खरीद करती है जिसकी उपयोगिता नहीं होती लेकिन सुरक्षा के नाम पर जिसके उत्पादन की कोई सीमा भी नहीं , क्योंकि नित्य नये हथियार ईजाद होते रहते हैं और पुराने रद्दी हो कर बेकार होते जाते हैं । इसके अलावा वस्तुओं को गैर-पूँजीवादी क्षेत्रों में बेचने का प्रयास होता है । फिर स्वयं पूँजीपतियों के यहाँ काम करनेवाले मजदूरों या सेवा कार्य में लगे मजदूरों के भविष्य की आय 'हायर परचेज' योजना के अन्दर वस्तुओं की बिक्री के लिए समेट ली जाती है । लेकिन चूँकि पूँजी के विकास के

लिए यह दबाव निरन्तर बना रहता है कि उत्पादन का फैलाव होता रहे , क्योंकि बिना उत्पादन और इससे प्राप्त मुनाफे के पूँजीवाद का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है अत: इस बात का निरन्तर प्रयास होता है कि लोगों में उत्तरोत्तर उपभोग वृत्ति को तेज किया जाये जिससे ग्राहकों का अभाव न हो । इस तरह उपभोक्तावादी संस्कृति उपभोग वृत्ति को निरन्तर उकसा कर पूँजीवादी उत्पादन को जीवित रखती है ।

समाजवादी कल्पना पर कुठाराघात : उपभोक्तावादी संस्कृति

इस उपभोक्तावादी दबाव ने मानव भविष्य की समाजवादी कल्पना की जड़ ही खतम कर दी है। मार्क्स तथा अन्य समाजवादियों की यह अवधारणा थी कि भविष्य में समाज में उत्पादन का स्तर इतना ऊँचा उठ जायेगा कि मानव आवश्यकता की वस्तुएँ उसी तरह उपलब्ध हो सकेंगी जैसे आज हवा या पानी उपलब्ध है । इससे आवश्यक वस्तुओं के अभाव से होनेवाली छीना-झपटी खतम हो जायेगी , और नया आदमी अपना अधिकांश समय मानवीय-बोध के विशिष्ट क्षेत्रों , जैसे कला तथा दर्शन के विकास में लगायेगा । कई लोगों ने यह कल्पना की थी कि जैसे प्राचीन युनान के कुछ नगर-राज्यों में गुलाम सारे शारीरिक श्रम का काम करते थे और नागरिक राजनीति , कला , दर्शन आदि विषयों में अपना समय लगाते थे उसी तरह भविष्य में मशीनें वैसे सारे काम जो आदमी को अरुचिकर लगते हैं , करने लगेंगी और आदमी का सारा समय बौद्धिक विकास में लगेगा । यह बहुत ही मोहक कल्पना थी । लेकिन इस कल्पना के पीछे यह मान्यता जरूर थी कि आदमी की जरूरतें सीमित हैं और एक समतामूलक समाज में मशीनों की मदद से थोड़े श्रम से इन जरूरतों की पूर्ति सब लोगों के लिए हो सकेगी । लेकिन उपभोक्तावाद ने आदमी की जरूरतों को एक ऐसा मोड़ दिया है कि वे उत्तरोत्तर बढ़ती हुई असीमित होती जा रही है और बौद्धिक चिन्तन के बजाय मनुष्य की सारी चिन्ता , सारा श्रम और सारे साधन इन नयी जरूरतों की पूर्ति के लिए अनन्तकाल तक लगे रहेंगे , हालांकि प्राकृतिक साधनों के क्षय , प्रदूषण आदि से अपनी वर्तमान गति से आदमी की यह यात्रा अल्पकाल में ही समाप्त हो जायेगी ।

इस विकास एक प्रभाव यह पड़ा है कि विकसित पश्चिमी देशों में धीरे-धीरे यह अवधारणा बढ़ रही है कि मानव-बोध के वे सारे क्षेत्र जिनमें कल्पना का सम्बन्ध किसी प्रयोग से नहीं बन पाता, कला का सम्बन्ध किसी निजी या सामूहिक सजावट या उत्तेजना से नहीं बन पाता वे सब अप्रासंगिक हैं । एक उपभोक्तावादी समाज हर वस्तु को उपभोग की कसौटी पर कसता है । ऐसा चिन्तन जो प्रयोग के दायरे में नहीं आता कभी उपभोग के दायरे में भी नहीं आ सकता भले ही सम्प्रेषित होकर वह दूसरे मानव मस्तिष्क में नया बोध या सपनों का एक सिलसिला उत्प्रेरित करे । लेकिन

उपभोक्तावादी समाज सपनों या कल्पना से बचना चाहता है , उसके लिए कल्पना की सीमा वे ठोस वस्तुएं हैं जिन्हे वह छू सकता है , खरीद सकता है और जिनसे अपने घरों को सजा सकता है । इस तरह उपभोक्तावादी संस्कृति धीरे - धीरे मानव - बोध की उस विशिष्टता को नष्ट कर देती है जो मनुष्यों को अन्य जीवों से अलग करती है - यानी ठोस वस्तुओं से ऊपर उठ कर कल्पना , अनुमान , प्रतीक आदि के स्तरों पर जीने की विशिष्टता । इस तरह यह उपभोक्तावादी संस्कृति एक तरफ थोक मशीनी उत्पादन के जरिये वस्तुओं से सृजन का तत्त्व निकाल देती है तो दूसरी ओर मानव - बोध से कल्पना की सम्भावना को ।

लेकिन कोई भी मानव - भविष्य की समाजवादी या गैरसमाजवादी युटोपिया (कल्पना-आदर्श) का उद्देश्य मनुष्य को उस स्थिति से मुक्त करने का रहा है जिसमें उसके व्यक्तित्व का चतुर्दिक विकास अवरुद्ध होता है । यही कारण है कि समाजवादी आन्दोलन के पीछे वही मानवता काम करती है जो किसी बड़े धार्मिक उत्थान के पीछे होती है । इसीसे हजारों लोगों को अपने उद्देश्यों के लिए अपने आप को बलि कर देने की प्रेरणा मिलती रही है । इसी कारण अपने शुद्ध अर्थ में समाजवाद की राजनीति अन्य तरह की राजनीति से अलग रही है । मोटे तौर से राजनीति का केन्द्र बिन्दु सम्पत्ति का एक या दूसरी तरह से बँटवारा रहा है । राजनीति के मुद्दे होते हैं - कौन सम्पत्ति का हकदार होगा , किस व्यक्ति या समूह को किस भूमि या भू-भाग पर अधिकार मिलेगा , किसकी क्या आमदनी होगी ? और इन्हीं से जुड़ा यह सवाल कि किस व्यक्ति या समूह की क्या सामाजिक राजनीतिक हैसियत होगी । जब मार्क्स ने यही बात कही थी तो उस समय यह कुछ चौंकानेवाली बात लगी थी । लेकिन आज सभी लोग इस सच्चाई को मानने लगे हैं । इस कारण उन लोगों के सामने जिन्होंने नये तरह के समाज के निर्माण की कल्पना की थी , नक्शा ऐसे 'आर्थिक मनुष्यों' का समाज बनाने का नहीं था । इस निरन्तर चलने वाली सम्पत्ति के बँटवारे की ऊहापोह को लेकर कोई मनीषी क्यों अपना पूरा जीवन लगाता ? समाजवाद की कल्पना के पीछे असली भावना आदमी के जीवन को सम्पत्ति और उसके उन प्रतीकों से मुक्त करना था जो उसे गुलाम बनाते हैं तथा उसके समुदायभाव को नष्ट करते हैं । इससे एक पूर्ण उन्मुक्त मानव की कल्पना जुड़ी थी । उपभोक्तावाद असंख्य नयी कड़ियाँ जोड़ कर मनुष्य पर सम्पत्ति की जकड़न को मजबूत करता है और इसलिए हमारे युग में समाजवाद के सीधे प्रतिरोधी के रूप में उभरता है ।

भारत और उपभोक्तावादी संस्कृति

विकसित पूँजीवादी देशों में , जैसा कि ऊपर कहा गया है , उपभोक्तावादी संस्कृति उत्पादन प्रक्रिया को बिना पूँजीवादी मूल्यों और ढाँचे को तोड़े चालू रखने और विकसित करने में सहायक

होती है । लेकिन तीसरी दुनिया के देशों में इस संस्कृति का असर इसके ठीक विपरीत होता है । भारत जैसे तीसरी दुनिया के के देशों में जहाँ साम्राज्यवादी सम्पर्क से परम्परागत उत्पादन का ढाँचा टूट गया है और लोगों की बुनियादी जरूरतों की पूर्ति के लिए उत्पादन के तेज विकास की जरूरत है , वहाँ उपभोक्तावाद के असर से विकास की सम्भावनाएँ कुंठित हो गयी हैं । पश्चिमी देशों के सम्पर्क से इन देशों में एक नया अभिजात वर्ग पैदा हो गया है जिसने इस उपभोक्तावादी संस्कृति को अपना लिया है । इस वर्ग में भी उन वस्तुओं की भूख जग गयी है जो पश्चिम के विकसित समाज में मध्यम वर्ग और कुशल मजदूरों के एक हिस्से को उपलब्ध होने लगीं हैं । इन वस्तुओं की उपलब्धि में उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा में भी बढ़ोतरी हो जाती है । अत: इस अभिजात वर्ग में और इसकी देखा-देखी इससे नीचे के मध्यम वर्ग और निम्न मध्यम वर्ग में भी स्कूटर , टी.वी. , फ्रीज और विभिन्न तरह के सामान और प्रसाधनों को प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा जग गयी है । हमारे अपने देश में इसके दो सामाजिक परिणाम हुए हैं । पहला , चूँकि यही वर्ग देश की राजनीति में शीर्ष स्थानों पर है , देश के सीमित साधनों का उपयोग धड़ल्ले से लोगों की आम आवश्यकता की वस्तुओं का निर्माण करने के बजाय वैसे उद्योगों और सुविधाओं के विकास के लिए हो रहा है जिससे इस वर्ग की उपभोक्तावादी आकाँक्षाओं की पूर्ति हो सके । चूँकि उत्पादन का यह क्षेत्र अतिविकसित तकनीकी का और पूँजी प्रधान है , इन उद्योगों के विकास में विदेशों पर निर्भरता बढ़ती है । मशीन , तकनीक और गैरजरूरी वस्तुओं के आयात पर हमारे सीमित विदेशी मुद्राकोष का क्षय होता है , और हमारा सबसे विशाल आर्थिक साधन जिसके उपभोग से देश का तेज विकास सम्भव था - यानी हमारी श्रमशक्ति बेकार पड़ी रह जाती है । जिन क्षेत्रों में देश का विशाल जन समुदाय उत्पादन में योगदान दे सकता है उनकी अवहेलना के कारण आम लोगों की जीवनस्तर का या तो विकास नहीं हो पाता या वह नीचे गिरता है ।

दूसरा , चूँकि उपभोक्तावाद व्यापक गरीबी के बीच खर्चीली वस्तुओं की भूख जगाता है , उससे भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है । चूँकि अभिजातवर्ग में वस्तुओं का उपार्जन ही प्रतिष्ठा का आधार है , चाहे इन वस्तुओं को कैसे भी उपार्जित किया जाय , भ्रष्टाचार को खुली छूट मिल जाती है । कम आय वाले अधिकारी अपने अधिकारों का दुरपयोग कर जल्दी से जल्दी धनी बन जाना चाहते हैं ताकि अनावश्यक सामान इकट्ठा कर सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकें । इसी का एक वीभत्स परिणाम दहेज को लेकर हो रहे औरतों पर अत्याचार भी हैं । बड़ी संख्या में मधयमवर्ग के नौजवान और उनके माता - पिता , जो अपनी आय के बल पर शान बढ़ानेवाली वस्तुओं को नहीं खरीद सकते , दहेज के माध्यम से इस लालसा को मिटाने का सुयोग देखते हैं । इन वस्तुओं का भूत उनके सिर पर ऐसा सवार होता है कि उनमें राक्षसी प्रवृत्ति जग जाती है और वे बेसहारा बहुओं पर तरह - तरह का अत्याचार करने या उनकी हत्या करने तक से नहीं हिचकते । बहुओं की बढ़ रही हत्याएं इस संस्कृति का सीधा परिणाम हैं । डाके जैसे अपराधों के पीछे कुछ ऐसी ही भावना काम

करती है । राजनीतिक भ्रष्टाचार का तो यह मूल कारण है । राजनीतिक लोगों के हाथ में अधिकार तो बहुत होते हैं , लेकिन जायज ढंग से धन उपार्जन की गुंजाइश कम होती है । लेकिन चूँकि उनकी प्रतिष्ठा उनके रहन-सहन के स्तर पर निर्भर करती है , उनके लिए अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर धन इकठा करने का लोभ संवरण करना मुश्किल हो जाता है ।

इस तरह समाज में जिसके पास धन और पद है और भ्रष्टाचार के अवसर हैं , उनके और आम लोगों के जीवन स्तरों के बीच खाई बढ़ती जाती है । इससे भी शासक और शासितों के बीच का संवाद सूत्र टूटता है । सत्ताधारी लोग आम लोगों की आवश्यकताओं के प्रति संवेदनहीन हो जाते हैं और उत्पादन की दिशा अधिकाधिक अभिजातवर्ग की आवश्यकताओं से निर्धारित होने लगती है । इधर आम जरूरतों की वस्तुओं के अभाव में लोगों का असन्तोष उमड़ता एवं उथल - पुथल की अधिनायकवादी तरीकों से जन-आन्दोलन से निपटना चाहता है। तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में राजनीति का ऐसा ही अधार बन रहा है , जिसमें सम्पन्न अल्पसंख्यक लोग छल और आतंक के द्वारा आम लोगों के हित के खिलाफ शासन चलाते हैं ।

भारत के गाँवों में जो थोड़ा बहुत स्थानीय आर्थिक आधार था उसको भी इस संस्कृति ने नष्ट किया है । भारतीय गाँवों की परम्परागत अर्थ-व्यवस्था काफी हद तक स्वावलम्बी थी और गाँव की सामूहिक सेवाओं जैसे सिंचाई के साधन , यातायात या जरूरतमन्दों की सहायता आदि की व्यवस्था गाँव के लोग खुद कर लेते थे । यह व्यवस्था जड़ और जर्जर हो गयी थी।और ग्रामीण समाज में काफी गैरबराबरी भी थी , फिर भी सामूहिकता का एक भाव था ।हाल तक गाँवों में पैसेवालों की प्रतिष्ठा इस बात से होती थी कि वे सार्वजनिक कामों जैसे कुँआ , तालाब आदि खुदवाने , सड़क मरम्मत करवाने , स्कूल और औषधालय आदि खुलवाने पर धन खरच करें । इस पर काफी खरच होता था और आजादी के पहले इस तरह की सेवा-व्यवस्था प्राय: ग्रामीण लोगों के ऐसे अनुदान से ही होती थी । यह सम्भव इस लिए होता था क्योंकि गाँव के अन्दर धनी लोगों की भी निजी आवश्यकताएँ बहुत कम थीं और वे अपने धन का व्यय प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए ऐसे कामों पर करते थे । इसी कारण पश्चिमी अर्थशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों की हमेशा यह शिकायत रहती थी कि भारतीय गाँवों के उपभोग का स्तर बहुत नीचा है जो उद्योगों के विकास के लिए एक बड़ी बाधा है । इन लोगों की दृष्टि में औध्योगिक विकास की प्रथम शर्त थी अन्तर्राष्ट्रीय बाजार और विनिमय में शामिल हो जाना ।

उपभोक्तावादी संस्कृति ने गाँवों की अर्थव्यवस्था के इस पहलू को समाप्त कर दिया है । अब धीरे - धीरे गाँवों में भी सम्पन्न लोग उन वस्तुओं के पीछे पागल हो रहे हैं जो उपभोक्तावादी संस्कृति की देन हैं । चूँकि गांव के सम्पन्न लोगों की सम्पन्नता भी सीमित होती है अब उनका सारा अतिरिक्त धन जो पहले सामाजिक कार्यों में खरच होता था वह निजी तामझाम पर खरच होने लगा है और

लोग गाँव के छोटे से छोटे सामूहिक सेवा कार्य के लिए सरकारी सूत्रों पर आश्रित होने लगे हैं । इसके अलावा जो भी थोड़ा गाँवों के भीतर से उनके विकास के लिए प्राप्त हो सकता था , अब उद्योगपतियों की तिजोरियों में जा रहा है। इससे गाँवों की गरीबी दरिद्रता में बदलती जा रही है ।

कम्युनिस्ट देश और उपभोक्तावाद

उपभोक्तावादी संस्कृति का कुछ ऐसा ही प्रभाव कम्युनिस्ट देशों पर भी पड़ रहा है । बोल्शेविक क्रान्ति के प्रारम्भिक दिनों में जब गृहयुद्ध चल रहा था , रूस में समता की एक जबरदस्त धारा थी जिसे 'युद्ध साम्यवाद' के नाम से सम्बोधित किया जाता था । धीरे - धीरे परिस्थितियों के दबाव में समता की धारा दब गयी । स्टालिन के वर्चस्व के बाद कम्युनिस्ट तानाशाही का जो रूप उभरा उसमें 'कम्युनिज्म' और 'फासिज्म' के बीच सामाजिक असलियत में कोई बुनियादी फर्क नहीं रहा । लेकिन कम्युनिस्ट व्यवस्था के भीतर बौद्धिक धरातल पर एक आलोचनात्मक दृष्टि जरूर थी जो इसे विरासत के रूप में मार्क्सवादी सिद्धान्त एवं क्रान्ति की घोषणाओं से मिली थी । जहाँ 'फासिज्म' में मूल्यों की कोई ऐसी मान्यता नहीं थी जिसके आधार पर उसकी सामाजिक असलियत को चुनौती दी जा सके , वहाँ रूस की सैद्धान्तिक मान्यताएं लोकतांत्रिक और समतावादी थीं । इसलिए रूस के शासकों को लगातार अपनी सामाजिक असलियत पर परदा डालना पड़ता था और यह कहना पड़ता था कि रूस की गैरबराबरी या तानाशाही की बात विरोधियों का प्रचार है । इस अन्तरविरोध के कारण बहुत से लोगों के दिमाग में यह धारणा थी कि रूसी समाज की बौद्धिकता में व्याप्त यह क्रान्तिकारी तत्त्व अन्ततोगत्वा वहाँ की सत्ता के लिए चुनौती बन जायेगा । लेकिन बाद में जब वहाँ की सामाजिक असलियत को झुठलाना सम्भव नहीं हुआ तब रूस के शासकों ने बहुत ही चतुराई से समाजवादी सिद्धान्तों को ही तोड़ना-मरोड़ना शुरु किया ।

अन्ततोगत्वा पूँजीवादी समाज की तरह उपभोक्तावादी मूल्यों को अपनाकर रूस का शासकवर्ग भी अपनी व्यवस्था और सिद्धान्तों के अन्तरविरोध से उबर गया है । अब रूस की जनता , खासतौर से मजदूर वर्ग के लोग , समता और बन्धुत्व की बात भूल गये हैं । क्रान्ति के बाद की पीढ़ी के लिए ये सब अपरिचित मान्यताएं हैं । वहाँ भी पश्चिम के नये देवता की पूजा आरम्भ हो गयी है और एक जबरदस्त चाह उन चीजों की पैदा हो गयी है जो पश्चिमी उपभोक्तावादी संस्कृति की प्रतीक हैं । इससे उत्पादन प्रक्रिया में धीरे-धीरे पूँजीवादी दक्षता की कसौटियाँ और उसी तरह के स्तरों में विभाजन को सैद्धान्तिक मान्यता प्राप्त हो गयी है । अकसर कम्युनिस्ट देशों का नारा अमेरिका के समकक्ष पहुँचने का रहा है । अमेरिका में प्रचलित उपभोग की वस्तुओं की लालसा कम्युनिस्ट देशों में भयंकर रूप से व्याप्त है । इस तरह अब कम्युनिस्ट और पूँजीवादी देशों के मूल्यों में अथवा

उत्पादन एवं वितरण की व्यवस्था में कोई मूल भेद नहीं रहा - इस फरक को छोड़कर कि कारखानों के कानूनी अधिकारी एक व्यवस्था में सरकार है तो दूसरे में पूँजीपतियों के समूह हैं । इस कारण कम्युनिस्ट देशों में शासक वर्ग को एक संभावित चुनौती से फुरसत मिल गयी है और अगर वे अपने शासन को थोड़ा ढीला भी कर दें तब भी तत्काल उनकी सुविधाओं को किसी बड़ी चुनौती का सामना नहीं करना पड़ेगा ।

लेकिन उपभोक्तावादी मूल्यों को अपनाकर कम्युनिस्ट व्यवस्थाएँ एक दूसरे तरह के संकट में फंस गयी हैं । रूस और पूर्वी यूरोप के अन्य देश जो रूसी अधिकार क्षेत्र में कम्युनिस्ट व्यवस्था चला रहे हैं , अभी भी तकनीकी दृष्टि से पश्चिम के उपभोक्तावादी समाज से काफी पीछे हैं , खासकर उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन क्षेत्र में । एक बार उपभोक्तावादी सिद्धान्त को मान लेने के बाद , एक बार यह मान लेने के बाद कि कम्युनिस्ट वयवस्था का मूल उद्देश्य लोगों को वे वस्तुएँ उपलब्ध कराना है जो अमेरिका या पश्चिम के अन्य विकसित देशों में लोगों को उपलब्ध हैं , व्यवस्था की यह मजबूरी बन जाती है कि लोगों को वे वस्तुएँ उपलब्ध कराये , या कम से कम उन लोगों को कराये जो शासन के आधार हैं । इन देशों के नागरिक भी अब इसी कसौटी पर शासन को कसने लगे हैं । इस मजबूरी के कारण पिछले दशकों में रूस और पूर्वी यूरोप के कम्युनिस्ट शासन न सिर्फ पश्चिम से बड़ी मात्रा में मशीन और तकनीक अपने उपभोक्ता उद्योगों के के आधुनिकीकरण के लिए आयात कर रहे हैं , बल्कि बड़ी मात्रा में अन्य उपभोग की वस्तुएँ भी खरीद रहे हैं । चूँकि इन देशों का उद्योग अभी भी अपेक्षाकृत पिछड़ा हुआ है, इसलिए ये लोग औद्योगिक सामान का निर्यात पश्चिम के देशों को नहीं कर सकते । इससे इन देशों में पश्चिम से खरीदे गए सामान का मूल्य चुकाने के सवाल को लेकर भारी आर्थिक संकट पैदा हो गया है । चूँकि रूस के पास खनिजों का विशाल भंडार है , वह तो सोना , तेल गैस तथा अन्य खनिजों का निर्यात कर अपने आयातों के बदले मुद्रा का भुगतान कर लेता है (अभी साइबेरिया से गैस की आपूर्ति के लिए पश्चिमी यूरोप तक पाइप बैठाने का काम इसी उद्देश्य से हो रहा है) , लेकिन पूर्वी यूरोप के अन्य देशों की अर्थ-व्यवस्था गहरे संकट में है । इनमें लगभग सभी देशों पर पश्चिमी देशों का कर्ज बढ़ता जा रहा है जिसे चुकाना उनके लिए मुश्किल हो रहा है । अकेले पोलैण्ड पर पश्चिमी देशों का कर्ज लगभग ३० अरब डॉलर हो गया है ।

एक बार उपभोक्तावादी मूल्य कबूल करके जीवन की बहुत सी अनुपयोगी वस्तुओं का अभ्यस्त होने के बाद उनसे छुटकारा पाना मुश्किल हो जाता है । यह एक ऐसा पेंच है कि इसमें एक बार फंस जाने पर कम्युनिस्ट देशों के नेताओं के लिए , उबरने का एक मात्र रास्ता पूँजीवादी मूल्यों को अधिकाधिक कबूल करते जाना है । इससे निकलने का दूसरा तरीका है समता के मूल्यों को कबूल करना जो एक ही झटके में तामझाम की तमाम जरूरतों को निरर्थक बना देते हैं । लेकिन इसको

कबूल करना उनके लिए अपने सत्ता के आधार को नष्ट कर देना है । यह संकट न सिर्फ कम्युनिस्ट शासकों का है बल्कि पूँजीवादी और गैरबराबरी पर टिकी हर व्यवस्था के शासकों का है । इसलिए वे समता का सिद्धान्त नहीं कबूल कर सकते , यह जानते हुए भी कि इसका विकल्प वर्त्तमान उत्पादन पद्धति को और भी संवेदनशून्य बनाना है , और भी तेज रफ्तार से उसी दिशा में ले चलना है , जहाँ प्राकृतिक साधनों के क्षय , प्रदूषण या सीमित प्राकृतिक साधनों पर अधिकार के लिए छीनाझपटी में युद्ध से मानव समाज का विनाश अवश्यंभावी दिखाई देता है ।

पुनश्च :

यह लेख १९८२-८३ में लिखा गया था । पिछले दशक के घटनाक्रम ने सोवियत युनियन और पूर्वी यूरोप में उस प्रक्रिया को , जो ऊपर वर्णित है अपनी परिणति पर पहुँचा दिया है । उपभोक्तावाद के दबाव में अपने उद्योगों को एक खास तरह की सक्षमता प्रदान करने के लिए सोवियत युनियन और इसके प्रभाव वाले पूर्वी देशों ने समाजवादी अतीत के बचे खुचे अवशेषों को भी तिलांजलि दे दी है । उद्योगों के सार्वजनिक स्वामित्व के सिद्धान्त और सभी लोगों को रोजगार देने की सरकारी जवाबदेही को खतम कर दिया गया है । विदेशी कम्पनियों को पूरी छूट इन देशों में उद्योग लगाने और मुनाफा बाहर ले जाने की , दे दी गयी है । पूरी तरह उन्मुक्त बाजार की तरफ व्यवस्था को ले जाने के प्रयास जारी हैं । सत्तर वर्ष से स्थापित व्यवस्था पाँच वर्ष के भीतर धराशायी हो गयी । लेकिन उन्मुक्त बाजार व्यवस्था अपनाने पर भी अपने आर्थिक संकट से उबरने के बजाय ये देश दिनोंदिन नये संकटों से घिरते जा रहे हैं। समाज का विघटन हो रहा है और माफियातंत्र विकसित हो रहा है । (**समाप्त**)

पूरी पुस्तिका की कड़ियाँ :

उपभोक्तावादी संस्कृति :गुलाम मानसिकता की अफ़ीम : सच्चिदानन्द सिन्हा

उपभोक्तावादी संस्कृति (२) : सच्चिदानन्द सिन्हा

उपभोक्तावादी संस्कृति (३) : कृत्रिमता ही जीवन

उपभोक्तावादी संस्कृति (४) : उपभोक्तावादी संस्कृति का विकास : सच्चिदानन्द सिन्हा

उपभोक्तावादी संस्कृति(५):औद्योगिक मानसिकता, खोखलेलेपन का संसार :सच्चिदानन्द सिन्हा

वस्तुओं को जमा करने की लत,समता और बंधुत्व का लोप : उपभोक्तावादी संस्कृति (६) :

आदमी का अकेलापन , एकाकी सुख : उपभोक्तावादी संस्कृति (७) : सच्चिदानन्द सिन्हा

पूँजीवाद के संकट को टालने का औजार : उपभोक्तावादी संस्कृति (८) : सच्चिदान्द सिन्हा

समाजवादी कल्पना पर कुठाराघात : उपभोक्तावादी संस्कृति (९) : सच्चिदानन्द सिन्हा

भारत और उपभोक्तावादी संस्कृति : उपभोक्तावादी संस्कृति (१०) : सच्चिदानन्द सिन्हा

कम्युनिस्ट देश और उपभोक्तावाद